International Journal of Advances in Engineering and Management (IJAEM)
Volume 2, Issue 11, pp: 114-117 www.ijaem.net ISSN: 2395-5252

''बाजार एक सामाजिक–आर्थिक संस्था के रूप में''
(Market as a Socio-Economic Institution)

Sadhana Maurya
(Assist. Professor)
Net/sociology
Ramnath mahavidyalay jaunpur affiliates/v.b.s.p.u. jaunpur

Date of Submission: 05-12-2020 Date of Acceptance: 20-12-2020

समाज ाास्त्रीय दृश्टि से बाजार को सामाजिक संस्था नहीं कहा जा सकता है। जिस रूप में परिवार, विवाह, नातेदारी और जातिव्यवस्था को सामाजिक संस्था के रूप में समाज ाास्त्र में परिभाशित किया जाता है, उस रूप में बाजार कोई सामाजिक संस्था नहीं है। बाजार जितना समाज ाास्त्र का विशय है उससे कहीं ज्यादा वह अर्थ ाास्त्र का विशय है। सच तो यह है कि अर्थ ाास्त्र के क्षेत्र में बाजार पर जितना भाोध–कार्य हुआ है, उसका एक प्रति ात भी समाज ाास्त्र में नहीं हुआ है। सही अर्थ में बाजार एक सामाजिक–आर्थिक संस्था (**Socio-Economic Institution)** है।

आम बोलचाल की भाशा में अधिकां ा लोग समिति को संस्था और संस्था को समिति कहते हैं। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि समिति में संस्था और संस्था में समिति पायी जाती है। पर गैर–समाज ाास्त्री जिसे संस्था समझते हैं, सही मायने में उसे संस्था नहीं कहा जाता है। संस्था का स्वरूप कभी भी मूर्त नहीं होता है। आमलोगों के बीच संस्था के अर्थ के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद तो हैं ही, समाज ाास्त्र में भी थोड़ी परे ाानी अव य हैं, क्योंकि विभिन्न समाज ाास्त्रियों ने इस भाब्द का प्रयोग हमे ा एक नि ित अर्थ में नहीं किया है। इस तरफ हमारा ध्यान निकोलस एबरक्रॉमी ने अपनी पुस्तक **The Penguin Dictionary of Sociology** में आकृश्ट किया है। संस्था को मकीवर एवं पेज ने इस प्रकार परिभाशित किया है–''सामाजिक समूह की कार्य–प्रणाली के स्थापित स्वरूप या व्यवस्था को हम संस्था कहते हैं।''

इससे स्पश्ट होता है कि हम समितियों का निर्माण करते हैं। साथ ही साथ समितियों के कार्य करने के कुछ सामान्य नियम तथा कार्य–प्रणाली को भी तय करते हैं। जब इन नियमों को स्थायी रूप दिया जाता हैं और जब यह कार्य–प्रणाली या कार्यविधि समाज द्वारा स्वीकृत हो जाती है, तब इन नियमों एवं कार्य–प्रणाली को हम संस्था कहते हैं।

रॉबर्ट बीयरस्टेट **(Robert Bierstedt)** ने संस्था को इस प्रकार स्पश्ट किया है–''संस्था सुव्यवस्थित या संगठित कार्य–प्रणाली को कहते हैं। समाज में कार्य करने के औपचारिक, मान्य, स्थापित वैसे तरीके को संस्था कहते हैं, जिसे समाज की स्वीकृति प्राप्त हो।'' इस परिभाशा में अन्य बातों के अलावा इस बात का भी जिक्र किया गया है कि जो कार्य–प्रणाली निर्धारित होती है, उसे समाज की स्वीकृति भी चाहिए। समिति के द्वारा केवल कार्य–प्रणाली की स्थापना ही काफी नहीं है। उसकी कार्य–प्रणाली को भी समाज स्वीकार कर ले यह भी आव यक है। संस्था का यह एक महत्वपूर्ण पहलू है।

प्रारम्भ में बाजार जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। लोग सामूहिक सम्बन्धों के आधार पर वस्तु विनिमय कर लिया करते थे। अभी कुछ समय पहले तक हमारे यहाँ गाँवों और आदिवासियों में वस्तु–विनिमय प्रथा प्रचलित थी। यह अर्थव्यवस्था ऐसी थी जिसे जीविकोपार्जन अर्थव्यवस्था **(Subsistance economy)** कहते हैं। जो कुछ खेत में पैदा होता था, उससे लोग अपना जीवन चला लेते थे। आव यकता पड़ने पर अपने उपार्जन को विनिमय द्वारा दूसरो को दे देते थे और इस तरह जीवन पीढ़ी–दर–पीढ़ी चलता रहता था।

कुछ लोगों के जीवन में ऐसी भी अवस्था आयी जब उपभोग से अधिक वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। इस अतिरिक्त उत्पादन को बेचने के लिए बाजार की आव यकता हुयी और इस तरह सामूहिक या व्यक्तिगत विनिमय को बढ़ावा मिला। इस अर्थ में बाजार अर्थव्यवस्था वह है जहाँ जीविकोपार्जन से अतिरिक्त उत्पादन को बेचा जा सके और उपभोग की अन्य वस्तुओं का विक्रय हो सके। इस अर्थव्यवस्था ने सम्पूर्ण उत्पादन–प्रक्रिया को ही बदल दिया है। स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि किसान जो कुछ उत्पादन करता है, वह बाजार के लिए ही होता है। वह अपने उपभोग की वस्तुओं को बाजार से खरीद लेता है। बाजार में जिन खाद्यान्नों के भाव ऊँचे होते है, किसान उन्हीं खाद्यान्नों की पैदावार करता है। आज इस भाँति बाजार सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रियां को बदल देते हैं। बाजार का यह क्षेत्र स्थानीयता से आगे बढ़कर राश्ट्रीय और अंतरराश्ट्रीय स्तर पर आ जाता है।

भारत में जब उद्योगीकरण आया तब इसके परिणामस्वरूप बाजार अर्थव्यवस्था का उदय हुआ। इस उदय के विकास की कहानी वस्तुतः पूँजीवाद के विकास की कहानी है। अब वस्तु विनियम समाप्त हो गया, दूर–दराज के क्षेत्रों में भी मुद्रा का चलन हो गया। उद्योग मेंज ब माल का निर्माण होता है तब इसे बेचने के लिए बाजार की आव यकता पड़ती है। वै वीकरण, उदारीकरण और विकास कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप दे ा में बाजार का बेतहा ाा विस्तार हुआ है। जहाँ बड़े बाजार हैं वही छोटे बाजार भी हैं। बाजारों के भी प्रकार होते हैं– कुछ बाजार निम्नवर्ग के लोगों के लिए होते हैं। इन बाजारों में केवल वहीं वस्तुएँ खरीदी या बेची जाती हैं जिनका ताल्लुक निम्नवर्ग और जातियों के लिए होता है। आर्थिक गतिविधि मानव की प्राथमिक गतिविधियों में से एक है। एक आदि मानव से लेकर आधुनिक मानव तक की आव यकताएँ केवल भोजन, आवास और यौन की ही नहीं थीं, बल्कि कभी न सन्तुश्ट होनेवाले और अपनी अवस्थाओं को निरन्तर उन्नत करते रहनेवाले प्राणी के रूप में लोगों के न केवल साधन बढ़े, बल्कि उनकी आव यकताएँ भी बढ़ती गयीं। इनको पूरा करने के तरीके, काम के संगठन, विनिमय और वितरण के स्वरूप भी इनके साथ बदलते गये। इसलिए, आर्थिक संरचनाओं के स्वरूप भी समय के अनुसार बदलते गये।

आर्थिक–पद्धति के प्रकार **(Types of economy)** – समाज ाास्त्रीय वि लेशण की सुविधा की दृश्टि से अर्थव्यवस्थाओं की तीन भागों में बाँटा जा सकता है – 1. ि ाकारी एवं संग्रहकारी या एकत्रीकरण अर्थव्यवस्था **(Hunting and gathering economy)** 2. सरल परिवर्तनकारी अर्थव्यवस्था **(Simple transformative economy)** 3. जटिल परिवर्तनकारी अर्थव्यवस्था **(Complex transformative**

International Journal of Advances in Engineering and Management (IJAEM)
Volume 2, Issue 11, pp: 114-117 www.ijaem.net ISSN: 2395-5252

economy) । प्रथम का सम्बन्ध आदिम अर्थव्यवस्था से, दूसरे का सम्बन्ध कृशक आर्थिक व्यवस्था से तथा तीसरे का सम्बन्ध आधुनिक अर्थव्यवस्था से है। इन अर्थव्यवस्थाओं के नामकरण कुछ भ्रामक हैं। संग्रहकारी आर्थिक–पद्धति का अर्थ केवल संग्रह नहीं है। वास्तव में इस भीर्शक के अन्तर्गत सभी जनजातीय आर्थिक प्रणालियों को समेटने की चेश्टा है। इसमें टोडा जैसे प ुपालक भी हैं, चेंचू जनजाति जैसी घुमंतू खेती वाले भी हैं और सन्थाल तथा मुण्डा जैसे खेती करनेवाले भी हैं। आर्थिक–पद्धति का यह वर्गीकरण तकनीकों या प्रौद्योगिकी **(Technoloy)** के प्रकारों को ध्यान में रखकर किया गया है। सबसे पहले आदिम संग्रह करनेवाली आर्थिक–पद्धति और अन्ततः वर्तमान औद्योगिक या पूँजीवादी या जटिल परिवर्तनकारी आर्थिक–पद्धति आती है।

आर्थिक विकास के प्रथम चरण में बाजार व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ था, क्योंकि लोग इतना उत्पादन नहीं कर पाते थे कि उसे बाहर जाकर बेच सकें। लोगों का किसी तरह जीवन–निर्वाह हो रहा था। उसे जीवन–निर्वाह आर्थिक स्थिति **(Subsistence economy)** कहा जाता है। बाजार की कल्पना तभी की जा सकती है, जब कुछ लोग अपनी आव यकता से अधिक उत्पादन करते हों। उस स्थिति में लोग अपनी वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय करते थे। आर्थिक व्यवस्था के दूसरे चरण में बाजार का जन्म हो गया। लोग साप्ताहिक बाजार से लेकर स्थिर बाजार में खरीद–बिक्री का काम करने लगे। उन्नत तकनीक की मदद से अधिक–से–अधिक उत्पादन होने लगा। स्थानीय बाजार से लेकर क्षेत्रीय बाजार से लोग जुड़ने लगे। छोटे–छोटे–हाट–बाजार और नगरों का विकास होने लगा। उस व्यवस्था की तुलना मध्यकालीन युग के बाजार से की जा सकती है। आधुनिक विज्ञान तथा तकनीक ने बड़े विकसित बाजार का रास्ता राश्ट्रीय और अंतरराश्ट्रीय स्तर पर प्र ास्त कर दिया। इसी बाजार व्यवस्था की परिणति है अर्थव्यवस्था का वै वीकरण।

यहाँ यह भी समझ लेने की आव यकता है कि समाजविज्ञान के अन्तर्गत बाजार किसे कहते हैं ? आमतौर पर हम बाजार को एक क्रय–विक्रय का स्थान मानते हैं। बोलचाल की भाशा में बाजार भाब्द का प्रयोग दुकानों के ऐसे समूह के लिए किया जाता है जो अक्सर बस पड़ाव या रेलवे स्टे ान के पास दिखायी पड़ते हैं, जहाँ विक्रेता और खरीददार एक–दूसरे से बात कर सामान खरीदते या बेचते हैं। लोग अपनी जरूरत की चीजों को इन जगहों पर स्वतन्त्र ढंग से खरीद–बिक्री करते हैं।

बजार एक ऐसी आर्थिक भाक्ति है, जो वस्तुओं की कीमत को निर्धारित करती है। किसी भी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के उत्पादक द्वारा निर्धारित नहीं होता है। वस्तु की कीमत निर्णायक रूप से बाजार द्वारा निर्धारित होती है। बाजार का अस्तित्व वस्तुओं के एक से अधिक विक्रेताओं के अस्तित्व पर निर्भर है। सामान्य रूप से बाजार भाब्द का प्रयोग उस स्थान वि ोश के लिए किया बाजार एक सामाजिक–आर्थिक संस्था के रूप में जाता है जहाँ पर वस्तुओं के क्रेता तथा विक्रेता एकत्रित होकर अपनी–अपनी वस्तुओं को खरीदने अथवा बेचने का कार्य करते हैं।

प्रारम्भ में बाजार एक स्थिर व्यवस्था नहीं थी। लोग सप्ताह में एक या दो दिन एक नि चित जगह पर इकट्ठा होते थे और वहाँ अपने घरों में जिन चीजों का उत्पादन जरूरत से ज्यादा होता था उनको बाजार में लाकर बेचते थे और फिर जीवन के अन्य जरूरी चीजों को खरीदते थे।

आधुनिक अर्थव्यवस्था में बाजार की भूमिका अधिक प्राचीन नहीं है। दुनियाभर में इस व्यवस्था का सम्बन्ध उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। आरम्भ में जब हमारा समाज अधिक जटिल नहीं था तब बाजार जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। लोग सामूहिक सम्बन्धों के आधार पर वस्तु विनिमय कर लेते थे। यह अर्थव्यवस्था ऐसी थी जो कृशि उत्पादन पर निर्भर करती थी, अर्थात् जो खेत में पैदा होता था, उससे जीवन–यापन हो जाता था। आव यकता पड़ने पर अपने उत्पादन को विनिमय द्वारा दूसरों को दे देते थे और इस प्रकार पीढ़ी–दर–पीढ़ी लोगों की जरूरतें पूरी होती रहती थी। कुछ समुदायों के जीवन में ऐसी अवस्था भी आयी जब वस्तुओं का उत्पादन उपभोग की जरूरत से अधिक होने लगा। इस अतिरिक्त उत्पादन को बेचने के लिए बाजार की आव यकता हुयी। जनजातीय समुदायों में बाजार अर्थव्यवस्था हाल ही में प्रचलित हुयी है। अब जनजातीय लोग अपनी अतिरिक्त पैदावार को बाजार में लाकर मुद्रा के द्वारा उसका विनिमय करने लगे हैं। इसका प्रभाव विनिमय पद्धति पर भी पड़ा। अब व्यक्तिगत या सामूहिक विनिमय का स्थान बाजार ने ले लिया। इस अर्थ में बाजार व्यवस्था वह है जहाँ जीविकोपार्जन से सम्बन्धित अतिरिक्त उत्पादन को बेचा जा सके और उपभोग की अन्य वस्तुओं को प्राप्त किया जा सकें।

संसार में आज जो अर्थव्यवस्था प्रचलित है, उसमें हमारे सभी लेन–देन के कार्य बाजार में ही होते हैं। श्रम, उद्यम, सेवाओं, उपभोक्ता वस्तुओं, वित्तीय सेवाओं, पूँजी तथा विनियोग की रा ियों का सम्पूर्ण कारोबार बाजार में होता है। बाजार के भी कई प्रकार हैं। उदाहरण के लिए, अलग–अलग प्रकार के श्रम के अनुसार श्रम–बाजार की कई श्रेणियाँ हैं, जैसे– लोहा–इस्पात उद्योग में श्रम, कपड़ा उद्योग में श्रम, कागज उद्योग अथवा खनिज उद्योग में श्रम इत्यादि। बाजार का जन्म तब होता है जब किसी वस्तु अथवा सेवा की पूर्ति करनेवाले व्यक्तियों के साथ बहुत से व्यक्ति उनका मूल्य देकर उन वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त करना चाहते हों। वस्तु की पूर्ति करनेवाले लोग और इस प्रकार वस्तु को प्राप्त करनेवाले लोग बाजार में आते हैं। साधारणतया बाजार आं िक रूप से कानून द्वारा नियमित होते है, लेकिन वैसे बाजार में अधिकां ा कार्य परम्परागत रूप से होता हैं। अर्थ ाास्त्री एडम स्मिथ **(Adam Smith 1723-90)** ने इसी को अदृ य हाथ **(Invisible hand)** का नाम दिया है। हरेक बेचनेवाला व्यक्ति अपनी सेवाओं या वस्तुओं का अधिक–से–अधिक मूल्य प्राप्त करना चाहता है, लेकिन बाजार की वयवस्था ऐसी होती है जो ऐसा करने नहीं देती है और यही वर्तमान पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की वि ोशता है।

बाजार के विभिन्न पक्षों की इस सम्पूर्ण विवेचना से स्पश्ट होता है कि बाजार सभी तरह के सरल, जटिल और आधुनिक समाजों की वि ोशता रही है। अर्थ ाास्त्री जहाँ यह मानते हैं कि बाजार और अर्थव्यवस्था से व्यक्ति का सामाजिक जीवन प्रभावित होता है, वहीं डर्कहाइम, मैक्स वेबर, वेबलेन और अनेक दूसरे समाज ाास्त्रियों ने यह स्पश्ट किया है कि विभिन्न सामाजिक मूल्य, धार्मिक वि वास और पारिवारिक द ााएँ आर्थिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करती हैं। इसी रूप में समाज ाास्त्री बाजार को एक सामाजिक–आर्थिक संस्था **(Socio-economic institution)** के रूप में स्पश्ट करते हैं। इस सम्बन्ध में निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर एक संस्था के रूप में बाजार के औचित्य को समझा जा सकता है।

1. मनुश्य का जीवन बहुत सरल और आदिम था तब भी जीवन–यापन के लिए लोग आर्थिक क्रियाएँ करते थे। उस समय भी वस्तुओं की अदला–बदला के रूप में विनिमय का कार्य होता था। हाटों और मेलों के रूप में बाजार का समय और स्थान सुनि चत थे। उस समय सभी आर्थिक क्रियाएँ जनजातियों के सामाजिक संगठन और मूल्यों के आधार पर निर्धारित होती थी। वर्तमान बाजार परम्परागत बाजारों का ही एक विकसित रूप है। इस प्रकार इन्हें सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था से अलग करके नहीं समझा जा सकता।
2. बाजार व्यवस्था आर्थिक लाभ और प्रतिस्पर्द्धा के नियमों पर आधारित होती है। किसी भी समाज में आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा और लाभ समाज के नैतिक नियमों से प्रभावित होते हैं। नैतिक नियमों को छोड़कर की जानेवाली प्रतिस्पर्द्धा एक तरह का गैर–कानूनी कार्य है।
3. आज सभी बाजार श्रम–विभाजन की प्रक्रिया पर आधारित हैं। जैसे–जैसे छोटे और सरल बाजार बड़ें और जटिल बाजारों में बदलते जा रहे हैं, श्रम–विभाजन की प्रक्रिया का भी

International Journal of Advances in Engineering and Management (IJAEM)
Volume 2, Issue 11, pp: 114-117 www.ijaem.net ISSN: 2395-5252

विस्तार होता जा रहा है। वास्तव में श्रम–विभाजन मूल रूप से एक सामाजिक तथ्य है जिसे डर्कहाइम ने बहुत विस्तार के साथ स्पश्ट किया है।

4. वर्तमान युग में बाजार का रूप बैंकिंग प्रणाली, विपणन प्रणाली, भोयर बाजार तथा बड़ी–बड़ी कम्पनियों की आर्थिक क्रियाओं के रूप में देखने को मिलता है। इन सभी क्रियाओं पर आयकर, जी0एस0टी0, सेवाकर और बहुत–से दूसरे नियमों के द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है। इसका अर्थ है कि बाजार भी इनके नियमों की एक व्यवस्था है जिसका रूप संस्था के ही समान है।
5. कोई भी बाजार संविदा के बिना संचालित नहीं होता। बहुराश्ट्रीय कम्पनियों के उत्पादन से लेकर सामान्य उत्पादन तक को बेचने के लिए बाजार के रूप में जिन आर्थिक क्रियाओं की जरूरत होती है, उनपर नियन्त्रण रखने के लिए सरकार द्वारा कुछ नि चत कानून बनाये जाते हैं। ऐसे सभी कानून बाजार को एक सामाजिक संस्था का रूप देने लगते हैं। वास्तव में कानूनों का सम्बन्ध उन्हीं नियमों से होता है, जो लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन को सुरक्षित बनाने में सहायता देते हैं।

अधिकां ा विकास ील दे ाों के कृशक या 'खेतिहर' समाजों में सर्वाधिक बाजार या हाट, सामाजिक और आर्थिक संगठन व्यवस्था की एक केन्द्रीय वि ोशता होती है। साप्ताहिक बाजार आसपास के गाँवों के लोगों को एकत्रित होने का अवसर देता है जो अपनी खेती की उपज या किसी और उत्पाद को बेचने आते हैं और वे बनी–बनायी वस्तुएँ एवं अन्य सामान खरीदने आते हैं जो उनके गाँवों में नहीं मिलते। इन बाजारों में स्थानीय क्षेत्र से बाहर के लोगों के साथ–साथ साहुकार, मसखरे, ज्योतिशी एवं तमाम तरह के वि ोशज्ञ अपनी सेवाएँ एवं वस्तुओं के साथ आते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में एक तय समय पर वि ोश बाजार लगते हैं, जिसका एक उदाहरण है मवे ाी या सब्जी बाजार। यह आवधिक बाजार विभिन्न स्थानीय और क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाओं को जोड़ता है एवं उन्हें बृहद् राश्ट्रीय अर्थव्यवस्था और कस्बों एवं महानगरीय केन्द्रों से जोड़ता हैं।

साप्ताहिक हाट, ग्रामीण भारत में भी एक आम नजारा होता रहा है। पहाड़ी और जंगली इलाकों में (खासतौर पर, जहाँ काफी आदिवासी बसे होते हैं) जहाँ अधिवास दूर–दराज तक होता है, सड़कें और संचार भी जीर्ण– ाीर्ण होता है एवं अर्थव्यवस्था भी अपेक्षाकृत अविकसित होती है। ऐसे में साप्ताहिक बाजार उत्पादों की एक प्रमुख संस्था बन जाता है। स्थानीय लोग बाजार में अपनी खेती की उपज या जंगल से लाई गयी चीजों को व्यापारियों को बेचते हैं जो कस्बों में इन्हें ले जाकर दुबारा बेचते हैं और इन पैसों से आव यक वस्तुएँ, जैसे– नमक, तेल, मसाला, कपड़े, चूड़ियाँ, भाराब, मांस, सब्जी एवं खेती के औजार और उपभोग की वस्तुएँ खरीदते हैं। पर, अधिकां ा लोगों के लिए हाट जाने का प्रमुख कारण सामाजिक है जहाँ वे अपने रि तेदारों से भेंट कर सकते हैं, घर के जवान लड़के–लड़कियों का विवाह तय कर सकते हैं, घरेलू सूचनाएँ देते हैं, गप्पें मार सकते हैं और कई अन्य कार्य कर सकते हैं।

जहाँ जनजातीय क्षेत्रों में साप्ताहिक बाजार एक बहुत पुरानी व्यवस्था है, वहीं समय के साथ इनके स्वरूप में परिवर्तन भी हुआ है। इन दूरस्थ क्षेत्रों के उपनिवे ाक राज्यों के नियंत्रण में आने के बाद इन्हें धीरे–धीरे क्षेत्रीय एवं राश्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं से जोड़ दिया गया। जनजातीय क्षेत्रों को सड़कों के निर्माण द्वारा और स्थानीय लोगों को 'समझा–बुझाकर' (जिनमें से बहुत से लोगों ने 'जनजातीय विद्राहों' द्वारा औपनिवे ाक भाासन का विरोध किया था) खोला गया ताकि इन इलाकों के समृद्ध जंगलों और खनिजों तक बेरोक–टोक पहुँचा जा सके। ऐसा होने से इन क्षेत्रों में व्यापारी, साहूकार और आसपास के मैदानी इलाकों से अन्य गैर–जनजातीय लोगों का यहाँ भी ताँता लग गया। इस प्रकार जनजातीय अर्थव्यवस्था में बदलाव आ गया, क्योंकि अब जंगल के उत्पादों को बाहरी लोगों को बेचा जाने लगा और नयी तरह की वस्तुएँ व्यवस्था में भाामिल हो गयी। आदिवासियों को अब उन खदानों और बागानों में भी मजदूर के तौर पर रखा जाने लगा जो अँगरेजी सरकार के दौर में स्थापित हुए थे। औपनिवे ाक दौर के दौरान जनजातीय श्रम के एक 'बाजार' का विकास हुआ। इन तमाम बदलावों की वजह से स्थानीय जनजातीय अर्थव्यवस्थाएँ बड़े बाजारों से जुड़ गयी पर इसका असर स्थानीय लोगों के लिए सामान्यतः काफी नकरात्मक था। उदाहरण के लिए, बाहर से स्थानीय क्षेत्रों में साहूकारों और व्यापारियों के आवागमन ने आदिवासियों को अपनी जमीन से अलग कर दिया। अधिकां ा लोगों ने अपनी जमीन को बाहरी लोगों को बेचकर भूमिहीन हो गये।

इस दे ा में प्राचीनकाल से ही जाति और पे ो के बीच घनिश्ट सम्बन्ध रहा है। लोग अपनी जाति के अनुसार ही पे ो को अपनाते थे, क्योंकि समाज की वही अपेक्षी थी। समाज का एक ऐसा ताना–बाना था जिसके अन्तगर्गत व्यक्ति को अपने जीवन–यापन के लिए पे ो के चुनाव की आजादी नहीं थी। समाज में मुख्य चार वर्ण थे और व्यावसायिक कार्य करने का अधिकार सिर्फ वै य वर्ण के लोगों को ही प्राप्त था। समय के साथ वै य वर्ण के अन्तर्गत विभिन्न किस्म की जातियों की उत्पत्ति हुयी और उनकी उत्पत्ति के पीछे उनके द्वारा किये जानेवाले व्यवसाय की अहम भूमिका थी। जैसे तेली को तेल का काम करना था, सोनार को जेवर–जेवरात का काम करना था, नाई को दाढ़ी–बाल काटने का काम मिला हुआ था, ठठेरे लोग बर्तन का काम करते थे, बढ़ई लकड़ी का काम करते थे तथा हलवाई मिठाई बनाने का काम करते थे। इस तरह से विभिन्न पे ाा के लिए विभिन्न जातियों के लोग नि चत थे। इस प्रकार की बहुत सारी पे ोवर जातियों को उत्तर भारत में बनिया कहा जाने लगा और प्रतिश्ठा को ध्यान में रखकर इनलोगों ने अपने–आपकों वै य कहना बेहतर समझा। धीरे–धीरे बहुत सारे कुटीर उद्योगों एवं अन्य प्रकार के बड़े उद्योगों का विकास हुआ और वे ही लोग अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर नये–नये पे ाों से जुड़ते चले गये।

वर्तमान समय में बाजार ने उपभोक्तावाद की संस्कृति को बढ़ावा दिया है। प्रत्येक चीज के लिए बाजार पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। खाने–पीने की तमाम वस्तुएँ– आटा–दाल जो घर में तैयार की जाती थीं, बाजार में टिनों और पॉलीथीन थैलों में मिलने लगी हैं। ये वस्तुएँ जिन्हें लोगों ने देखा नहीं था आज बिक्री काउन्टर पर आग्रहपूर्वक दी जाने लगी हैं। बाजार का भाायद बहुत बड़ा सामाजिक परिणाम दिन–प्रतिदिन विकसित होता उपभोक्तावाद है। चाय, कॉफी, सिगरेट व भाराब आदि का प्रचार बाजार के माध्यम से ही सम्भव हुआ है।

मध्यवर्ग पहले भी थे लेकिन इनके विकास की गति बहुत धीमी थी। देखा जाये तो सरकारी नौकरियों, बहुराश्ट्रीय कम्पनियों और बढ़ते हुए बाजार ने मध्यवर्गों के विकास को एक ऐतिहासिक अवसर प्रदान किया है। मध्यवर्ग के साथ–साथ राजनीति और ि ाक्षा ने एक नये अभिजात वर्ग को भी पैदा कर दिया है। मध्यवर्ग और अभिजात वर्ग की आव यकताएँ कभी पूरी नहीं होतीं, उनका विस्तार होता ही रहता है। मध्यवर्ग का आदमी गैर–नियमित आय करने के लिए सदा तत्पर रहता है। इसके परिणामस्वरूप एक समानान्तर अर्थव्यवस्था पैदा हो जाती है। बाजार ने नये किस्म के व्यावसायिक वर्ग को जन्म दिया है। इसी ने धीरे–धीरे पूँजीपति वर्ग को भी आगे बढ़ाया।

पहले गाँवों के बाजारों में प्रतियोगिता नहीं थी। यहाँ के स्थानीय हाट में ग्राहक को जो उपलब्ध होता था, ले लेता था। ग्राहकों को चयन करने को भाायद ही कोई अवसर होता था। अब बाजार प्रतियोगी हो गये हैं। इस प्रतियोगिता ने आम खरीददार को अधिक–से–अधिक वस्तुएँ खरीदने के लिए प्रोत्साहित किया है। प्रतियोगिता कुछ ऐसी चल पड़ी है कि दो वस्तुएँ खरीदों और एक वस्तु मुफ्त में ले जाओ। चुकाने को दाम न हो, तो किस्तों पर ले

International Journal of Advances in Engineering and Management (IJAEM)
Volume 2, Issue 11, pp: 114-117 www.ijaem.net ISSN: 2395-5252

जाओ। बाजार का यह व्यवहार कई आर्थिक प्रक्रियाओं के कारण है। आज का बाजार ग्राहक केन्द्रित बाजार है।

अब बाजार परम्परागत नहीं रहे, उनमें उद्यमिता आ गयी है। परम्परागत बाजार में व्यापारी एक रूढ़िवादी व्यवस्था पर अपना काम–काज चलाता था। उसके ग्राहक उसके आसामी थे। अब यह स्थिति बदल गयी है। जाति और परम्परा पर आधारित व्यापारी अब अपने धन्धे को उद्यमिता के रूप में देखते हैं। बाजार में बैठनेवाले ये लोग हर तरह की जोखिम लेने के लिए तैयार रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अब बाजार का कारोबार रूढ़िवादी और परम्परागत ढंग से नहीं होता। अब इसमें नवीनता आ गयी है, उद्यमिता का प्रवे ा हो गया है।

जो व्यापारी जोखिम लेते हैं, रातों–रात करोड़पति बन जाते हैं। यह ठीक है कि निम्न वर्गों का जितना विकास होना चाहिये था, पिछले 70 वर्शों में नहीं हुआ है। यह सब होते हुए भी बाजार ने वर्ग–व्यवस्था को समाज में अधिक मुखर कर दिया हैं। यह बाजार के कारण ही है कि गाँवों में भी वर्ग–व्यवस्था ने सामाजिक संरचना को अत्यधिक जटिल बना दिया है। अब गाँव का बाजार भी धीरे–धीरे आधुनिक होने लगा है। पहले बाजार सभी लोगों के लिए होते थे, अब गाँव और भाहर दोनों में बाजारों का वि ाश्टीकरण होने लगा है। पर यह इस बात पर निर्भर करता है कि कोई गाँव किसी बड़े भाहर से कितनी दूरी पर है। अब बाजार लोगों के बीच नयी–नयी जरूरतों को भी जन्म दे रहा है।

बाजार का वि लेशण जब समाज ाास्त्री करता है तो वह उसे केवल आर्थिक विनिमय का केन्द्र ही नहीं मानता। हमारा अनुभव बताता है कि बाजार नयी संस्कृति को भी पनपाता है। जब मैकडॉनल्ड दिल्ली या चण्डीगढ़ के बाजार में आता है तो वह केवल पीजा ही नहीं बेचता, अमरीका की संस्कृति और वहाँ के व्यवहारों को भी बेचता है। वहाँ काम करनेवाली महिला वेटर भारतीय लड़कियों में एक नयी संस्कृति के प्रति उत्सुकता पैदा करती हैं। बाजार के माध्यम से एक ऐसी कॉस्मोपॉलिटन और विदे ाी संस्कृति का धमाका होता है कि स्थानीय संस्कृति आहत हो जाती है।

उपनिवे ावाद में बाजार का विकास हुआ था। यह विकास अपने विस्तार में बहुत सीमित था। इस काल में दे ा के पाँच लाख गाँवों में कोई व्यवस्थित बाजार नहीं था। कुछ कस्बों और गाँवों में छोटे–छोटे स्थानीय बाजार थे। आसपास के गाँव सामान्यतया बिना बाजार के थे। उद्योगीकरण, भाहरीकरण और आधुनिकीकरण के कारण बाजार धीरे–धीरे अपने विस्तार में बढ़ने लगे। उनमें जटिलता आने लगी और आज तो बाजार एक तरह से वि व बाजार बन गये हैं। दुनिया के किसी भी कोने की वस्तु दे ा के सामान्यतया प्रत्येक बाजार में उपलब्ध होने लगी है। बाजार के इस बढ़ते हुए विस्तार ने सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सम्पूर्ण समाज को प्रभावित किया है। बाजार के ये परिणाम केवल आर्थिक ही नहीं हैं, सांस्कृतिक भी हैं, जिसे हम पॉप कल्चर **(Pop culture)** कहते हैं। वस्तुतः यह बाजार द्वारा प्रेरित लोकप्रिय संस्कृति है।

संदर्भ सूची :–

- Weber, Max, Economy and Society : An outline of interpretive sociology.
- Swedberg, Richard, Max Weber and the Idea of Economic Sociology.
- Singh, J.P. Society in Modern India.
- Dobbin, Frank, The New Economic Sociology.